International Journal in Management and Social Science
Volume 12 Issue 2, February 2024 ISSN: 2321-1784 Impact Factor: 8.088
Journal Homepage: http://ijmr.net.in, Email: irjmss@gmail.com
Double-Blind Peer Reviewed Refereed Open Access International Journal

बौद्ध धर्म के उदय के पूर्व की धार्मिक स्थितियाँ - एक अध्ययन

डॉ0 प्रदीप सिंह

असिस्टेंट प्रोफेसर, प्राचीन इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग, टी0डी0 पी0जी0 कालेज, जौनपुर

प्रत्येक युग पुरुष अपने समसामयिक काल की माँग हुआ करता है। भगवान बुद्ध भी इसके अपवाद नहीं थे। छठी शताब्दी ई०पू० में भारत के सन्दर्भ में जो क्रान्ति प्रस्फुटित हो रही थी। यह आकास्मिक नहीं थी और न इसके पीछे एक कारण था, बल्कि इसके पीछे अनेक कारणों की श्रृंखला कार्य कर रही थी। भारत वर्ष सदा से धर्मप्रधान देश रहा है। यहाँ समस्त व्यवस्थायें-सामाजिक, नैतिक, राजनीतिक आर्थिक आदि धर्म की परिधि पर घूमते रहे हैं तथा धर्म की केन्द्रीय स्थिति रही है। भारतीय जीवन के समस्त मूल्यों का निर्धारण धर्म के आधार पर हुआ था। धर्म की विशद एवं व्यापक परिभाषा के अन्तर्गत धर्म और जीवन अन्योन्याश्रित बन गये थे। उनके बीच की विभेद रेखा तिरोहित हो गयी थी। डॉ० राधा कृष्णन ने धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है, ''धर्म की शक्ति ही जीवन शक्ति है ' ' शक्ति का अर्थ है संरक्षण, अर्थात् जिसमें प्राणी मात्र के हितों की सुरक्षा होती है, वह धर्म हैं1 इसी की मनुष्य के जीवन में अपेक्षा की जाती है। धर्म समाज की अन्तः चेतना है और सुख शान्ति का आधार है. इसी रूप में वह ग्राहय भी है। भारतीय संस्कृति की ऐतिहासिक यात्रा का प्रारम्भ जहाँ से होता है या जहाँ से इसके अवशेष चिन्ह हमें प्राप्त होते है, वहाँ से हमें ऐसे संकेत मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं, जो मानव मात्र की ऐसी आस्थाओं को अभिव्यक्त करता है. जिसका सम्बन्ध हम क्रमशः अन्धविश्वास, धर्म एवं आध्यात्य से जोड़ सकते हैं। भारत के सांस्कृतिक परिपेक्ष्य में जब हम अध्ययन करते हैं, तब हम जान जाते हैं कि भारत का हृदय धर्म से अनुप्राणित क्यों है? यहाँ वैदिक काल के पूर्व एवं वैदिक काल के पश्चात् विशेष रूप से धार्मिक मान्यताओं, विश्वासों मूल्यों एवं सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ। साथ ही अनेक दार्शनिक मतों एवं सिद्धान्तों को भी मान्यता प्राप्त हुई। मैक्सवेवर महोदय ने धर्म को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि धर्म का व्यवहारिक महत्व कर्तव्य का समुचित पालन है, जिसके माध्यम से व्यक्ति लौकिक उत्कर्ष के साथ ही साथ आध्यात्मिक उत्कर्ष प्राप्त करता है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त भारतीयों का जीवन ज्ञान गर्भित, सदा चरित्र और धर्म-प्रवण था। भारतीयों में धार्मिक चेतना का उदय तो प्राचीन सभ्यताओं के उदय के साथ ही परिलक्षित होता है परन्तु धार्मिक चिन्तन एवं हिन्दू संस्कृति के प्राचीनतम दस्तावेज वेद हैं। वैदिक साहित्य के अवलोकन से पता चलता है कि वैदिक धर्म, भारतीय संस्कृति का प्राणाधार तत्व हैं। ऋग्वैदिक काल में मनुष्यों का जीवन आस्तिक विचारों एवं धार्मिक चेतनाओं से आप्लावित रहा। धर्म सृष्टि का आधार माना जाता है जिस पर व्यक्ति एवं समाज टिका हैं। वैदिक परम्परा में धर्म सामाजिक जीवन एवं आध्यात्मिक जीवन के मध्य एक सेतु के रूप में विद्यमान था। इतिहासकारों का विचार है कि प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था का मुख्य प्रेरकतत्व धर्म ही था, जिसमें नैतिकता, आस्तिकता, सदाचारिता और बौद्धिकता का समावेश हुआ था, जिसके माध्यम से दार्शनिक तत्वों का विकास हुआ।2 सर्वप्रथम दार्शनिक चिन्तन का प्रारम्भ ऋत्3 के रूप में ऋग्वैदिक काल में हुआ जो एक प्रकार का अनुशासन था। इसका सम्पूर्ण विकास और वैदिक युग में उपनिषदों की रचना से माना जाता है। परवर्ती

काल में न्याय जैसे तार्किकि सिद्धान्तों का विकास हुआ।4 वैदिक काल के उपरान्त तत्कालीन समाज में शैव एवं वैष्णव धर्म का आस्तित्व बढ़ा, जिनकी अपनी सुस्पष्ट धार्मिक मान्यताएँ एवं अस्थाएँ थीं। जैन धर्म भी अपनी विशिष्टताओं से जनसाधारण को आकृष्ट किये हुए था। आरण्यक, उपनिषद, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र आदि धर्मग्रन्थों में विशिष्ट बाह्मण धर्म का पूर्ण विवरण प्राप्त होता है। द्विजातियों ने इस धर्म का आचरण किया, किन्तु इसका पूर्णरूप से पालन केवल ब्राह्मणों ने किया था5 ब्राह्मण ग्रंथों तथा आरण्यकों में वर्णित धर्माचरण में कई असमानताएँ प्राप्त होती है जैसे ब्राह्मणों में मुख्यताः धर्म के बाह्य आचरण की प्रधानता थी किन्तु आरण्यक में कर्म से अधिक ध्यान6 को महत्व दिया गया है। ब्राहाण ग्रंथों में जटिल धार्मिक क्रियाकलापों का विधान किया गया है। लेकिन आरण्यकों में अपेक्षाकृत सरल आचरण का विधान हैं और वे आन्तरिक अनुशासन या मानस यज्ञ पर बल देते हैं। ब्राह्मण ग्रंथों में स्वर्ग की प्रधानता प्रतिपादित की गयी है और आरण्यकों में तत्व ज्ञान की।7 उपनिषदों में आत्मज्ञान को सर्वोपरि माना गया है। उपनिषद दर्शन का सार है- समस्त सृष्टि ब्रम्हमय है और ब्रह्म ही आत्मा हैं8 आत्मा के इस स्वरूप का विकास वस्तुतः ऋग्वेद के पुरूष की कल्पना पर आधारित है। उपनिषदों के अनुसार आत्मा एवं ब्रह्म की अनुभूति ही जीवन का परम लक्ष्य है। उपनिषद दर्शन के आत्मतत्व की कल्पना नैतिक मूल्यों पर आधारित है क्योंकि प्राणिमात्र के प्रति दया एवं प्रेम की भावनाओं का आचरण हो वस्तुतः ब्रह्म के प्रति श्रद्धा मानी गयी है। उपनिषद दर्शन वस्तुतः अज्ञान के त्याग और तत्व ज्ञान की खोज पर केन्द्रित है।9 वैदिक धर्म या विशिष्ट ब्राह्मण धर्म यज्ञ प्रधान था और इसका पालन उस युग के ब्राह्मण करते थे जो क्षोत्रिय या महासाल कहलाते थे।10 ब्राह्मण ग्रंथों में यज्ञों की श्रेष्ठता पर विशेष बल दिया गया है। तत्कालीन समाज के लोगों की यह मान्यता थी कि यज्ञ प्रजा का रक्षक हैं। यज्ञ की अग्नि में घी आदि की आहुति दी जाती है। यह अग्नि सूर्य की ओर जाती है सूर्य के प्रभाव से मेघमण्डल के साथ मिश्रित होकर हवि नीचे उतर कर वर्षा करती है। जिससे अन्न उत्पन्न होता है और अन्न से प्रजा की रक्षा होती है।11 एक मुख्य धारणा यह थी कि यज्ञ के माध्यम से देवगण प्रसन्न होते हैं और मनुष्य को मनोवांछित वर प्रदान करते हैं। शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ को समस्त पापों से मुक्ति प्रदान करने वाला बताते हुए कहा गया है कि, जो अग्निहोत्र यज्ञ करता है वह समस्त पापों से निवृत्त हो जाता है।12 इस प्रकार वैदिक यज्ञों को पाप निवृत्ति, मोक्षप्राप्ति शतायु होने का साधन, रोग के कीटाणुओं का रक्षक तथा अनिष्ट के परिहार एवं इष्ट के प्राप्ति का साधन बताया गया है। अतः सामान्यतया लोग यज्ञ के तरफ प्रेरित हुए। शतपथ ब्राह्मण में वर्णित है कि यज्ञ की सम्पन्नता अग्नि से संभव थी जिसे अत्यन्त पवित्र एवं अमर माना गया है।13 देवताओं की प्रतिष्ठा यज्ञ द्वारा संभव थी, एक देवता की दूसरे देवता से श्रेष्ठता एवं प्रधानता यज्ञ कर्म से ही आँका जाता था।14 ऐतरेय ब्राह्मण एवं सूत्र साहित्य में बहुसख्यक श्रौत यज्ञों का वर्णन किया गया है। जिसमें अग्न्याध्येय, दर्शपूर्णमास चातुर्मास्य, वैश्वदेव शुनासीरोय, अग्निष्टोय, वाजपेय, राजसूय और अश्वमेध विशेष प्रसिद्ध हैं।15 इन यज्ञों के क्रिया कलाप अत्यन्त जटिल एवं खर्चीले थे। अतः विशेषज्ञ पुरोहितों के बिना ये नहीं किये जा सकते थे। यज्ञ में मंत्रो के द्वारा देवताओं का आह्वान किया जाता था, आहुति और बलि दी जाती थी। स्तुति और बलिदान से देवता प्रसन्न हो यजमान को अभीष्ट फल प्रदान करते थे। यज्ञ में थोड़ी सी भी त्रुटि ब्राह्मणों के अनुसार भारी अनिष्ट पैदाकर सकती थी।16 इसका परिणाम यह हुआ कि इन श्रौत यज्ञों ने ब्राह्मण पौराहित्य को और भी अधिक प्रतिष्ठा एवं बल प्रदान किया। ब्राह्मण ग्रंथों में वर्णित है कि यदि पुरोहित यज्ञ न

करता हो तो सूर्य उदय नहीं हो सकता।17 श्रौत्र सूत्रों तथा गृह्य सूत्रों में अनेक यज्ञों तथा 16-17 प्रमुख पुरोहितों का उल्लेख मिलता है। यज्ञ के मूल में यह धारणा काम कर रही थी कि बलि प्राप्त कर देवता जितना संतुष्ट होते हैं, उसी अनुपात में यज्ञकर्ता को अनुग्रहीत करते हैं। अतः अधिकाधिक संख्या में अग्निकुण्ड में पशुओं की बलि दी जाने लगी थी। बौद्ध ग्रंथ सुत्रनिपात के अनुसार सर्वप्रथम राजा ओक्काक (इछवाकु) के समय में ही स्वार्थी ब्राह्मणों ने हिंसात्मक यज्ञों की प्रथा चलाई। मनुष्य के सभी कर्मों में याज्ञिक क्रिया सर्वश्रेष्ठ थी। कुछ यज्ञ ऐसे थे जिनका अनुष्ठान महीनों वर्षों तक चलता रहता था। उसमें पशुओं की बलि तथा घी एवं अन्य हवन सामग्री का हवन हमेशा होता रहता था। इस प्रकार ये यज्ञ इतने व्यवसाध्य हो गये थे ये केवल धनाढ्य एवं धनिक वर्गों तक ही सीमित रह गये थे यज्ञों की अधिकता एवं जटिलता के कारण पुरोहितों की संख्या में निरंतर वृद्धि होती गयी। सत्रह व्यक्तियों द्वारा किये जाने वाले यज्ञ कितने अपव्ययात्मक होते रहे होगें इसका सहज अनुमान नहीं लगाया जा सकता। बौद्ध धर्म के उद्भव के पूर्व वैदिक धर्मानुयायी पशुयज्ञ को वैसा ही महत्वपूर्ण मानते थे जैसा वैदिक युग के आर्य। अनेक प्रकार के यज्ञों का अनुष्ठान करते थे, जैसे- अश्वमेध यज्ञ, पुरुषमेध यज्ञ, वाजपेय यज्ञ आदि। महायज्ञों में गाय, वृषभ, बछड़े बछिया, बकरे, भेड़ सुअर, घोड़े, हाथी आदि पशुओं तथा अनेक पक्षियों की बलि दी जाती थी।18 जहाँ एक ओर समाज में निम्न वर्ग को मान्यता देकर धर्म को व्यापक स्वरूप प्रदान किया जा रहा था वहीं दूसरी ओर ब्राह्मण धर्म में जटिलता को प्रश्रय मिलने के कारण समाज एक संकुचित विचारधारा की ओर मुड़ने लगा था। इन हिंसा प्रधान यज्ञों के अलावा याज्ञिक कर्मकाण्डों का एक दूसरा पक्ष भी इस समय आस्तित्व में था, जो निष्काम भावना और सामूहिक जनकल्याण को ओत-प्रोत था दैनिक कर्मों से जुड़े पंचमहायज्ञ तथा संस्कारों के अवसर पर सम्पन्न किये जाने वाले यज्ञ इसके उदाहरण है। हिंसक यज्ञों के द्वारा अपनी संतुष्टि को विराम देने वाले जनमानस के साथ ही जनता का एक वर्ग ऐसा भी था जो अहिंसा एवं आचार शुद्धि पर भी बल देता था। प्रारम्भिक वैदिक धर्म में इस प्रकार के वाह्याचारों के लिये कोई स्थान नहीं था। वैदिक आर्य अत्यन्त प्रवृत्ति मार्गी थे। उनके जीवन में सन्यास और गृहत्याग का स्थान न था। वह गृहस्थाश्रय में ही देवोवसना और देवभजन के द्वार कल्याण प्राप्ति की चेष्टा करता था।' परन्तु जिस रूप में ब्राह्मण ग्रंथों के काल में यज्ञं एवं कर्मकाण्डों का विस्तार हुआ वह वास्तव में घबराने वाली बात थी। शुरू में ये यज्ञ सरल थे, बाद में जटिल हो गये। खुले आकाश में या पेड़ के नीचे देवताओं का बड़े सरल सीधे ढंग से आह्वान करके यज्ञ सम्पन्न हो जाता था। परन्तु कालान्तर में निरूराघ पशुओं की हत्या सहृदय व्यक्ति के लिये क्षोभ एवं वितृष्णा का कारण बना। बौद्ध साहित्य में यज्ञ सम्बन्धी अनेकानेक महत्वपूर्ण उल्लेख मिलते हैं। महाविजित नामक प्राचीन राजा के एक विशुद्ध यज्ञ का वर्णन करते हुए महात्मा बुद्ध ने स्वयं कहा है ब्राह्मण, उस यज्ञ में गायें नहीं मारी, बकरे, भेजें नहीं मारी गयीं, मुर्गे सुअर नही काटे गये। जो भी उसके दास प्रेष्य, कर्मकर थे उन्होंने दण्डार्जित, भयतर्जिन हो अश्रुमुख, रोते हुए सेवा नहीं की। जो चाहा उसे किया। जो चाहा उसे नही किया। घी, तेल, मक्खन, दही, मधु और गुड़ से ही वह यज्ञ समाप्ति को प्राप्त हुआ।' प्रा० भारतीय सामाजिक संगठन में ब्राह्मणों का अधिकाधिक वर्चस्व होने के कारण उन्हें यज्ञ में जनता का पूर्ण सहयोग मिलना स्वाभाविक था। जो ब्राह्मण महासाल प्रभावशाली थे उनके द्वारा सम्पादित यज्ञ में अधिकाधिक संख्या में लोग एकत्र हो जाया करते थे। काश्यप बन्धुओं के वार्षिक यज्ञ समारोह में अंग-मगध वासी बड़ी संख्या में एकत्र हुआ करते थे।

बौद्ध धर्म के उदय के पूर्व पशुयज्ञ उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया और पुरोहितों की जीविका का प्रमुख साधन बन गया था। बिना दक्षिणा के यज्ञ अपूर्ण एवं निष्फल माना जाने लगा था। जन्म से लेकर मरण तक प्रत्येक संस्कार के साथ यज्ञ होना अनिवार्य हो गया था। यज्ञ करने में अधिकाधिक धन व्यय होने लगा था इसका कारण ब्राह्मणों को प्रभूत दक्षिणा देना था। ऋग्वैदिक ब्राह्मण वर्ग अपने उच्चादर्श के लिये ख्यातिलब्ध था। परन्तु उत्तरवैदिक काल के उपरान्त उसकी महत्वाकांक्षा सुस्पष्ट होने लगी। उसकी सामाजिक श्रेष्ठता के कारण ही उसे छः प्रकार के दण्डों से मुक्त रखा गया था- शारीरिक यातना, कारावास, जुर्माना, देशनिष्कासन, अपमान एवं मृत्युदण्ड। फिर भी लोग आत्मिक शान्ति के लिये याज्ञिक कर्मकाण्डों के विरूद्ध नये उपायों की ओर अग्रसर होने लगे। जिसमें हठयोग एवं तपस्या मुख्य थी। लोगों में यह विश्वास तीव्र गति से फैल रहा था कि कठिन तपस्या करने से ऋद्धि-सिद्धि की प्राप्ति हो सकती है। अतः व्यक्ति आत्मिक शान्ति की प्राप्ति के लिये अनेक प्रकार की तपस्या करने लगे। तत्कालीन समाज में तामसी तप का प्रसार अधिक हो गया। किन्तु जनमानस को हठयोग, तपस्या एवं यज्ञ और बलिदान से भी आत्मिक शान्ति नहीं प्राप्त हुई तो लोगों ने आत्मा परमात्मा जीव के सुख-दुःख के लिये परमात्मा के गूढ़ विषयों पर विचार किया और उपनिषदों का अनुशीलन करना प्रारम्भ किया। उनके द्वारा प्रतिपादित विचारों का अध्ययन एवं मनन होने लगा। किसी ने उपनिषदों में अद्वैतवाद का दर्शन किया तो किसी ने विशिष्टाद्वैत का इस प्रकार अनेक मत मतान्तर हो गये। जनार्दन भट्ट के अनुसार महात्मा बुद्ध के जन्म के समय समाज में तीन मुख्य धारायें अति प्रबलता से प्रचलित थीं वे निम्न है- यज्ञ-बलिदान, हठयोग और तपस्या तथा ज्ञान मार्ग और दार्शनिक विचार। किन्तु इसके नीचे छोटी विचारधाराएं तथा जादू-टोने, सर्प, वृक्ष की पूजा, भूतप्रेत आदि का भी महात्म्य था। ऋग्वैदिक काल में किसी एक देवता की प्रतिष्ठा न थी अपितु एक से अधिक देवी देवताओं की अर्चना की जाती थी। मनुष्य का वाह्य एवं आन्तरिक जगत सभी देवों से आच्छन्न हो गया था। इसमें कुछ देवता प्रकृति के, कुछ वानस्पतिक जगत के, और कुछ पाशविक जगत से सम्बन्धित थे। विशाल देव समूहों से बहुदेववाद की विकसित अवस्था ज्ञात होती है मानव जीवन के आधार सूर्य, पवन, जल, अग्नि आदि को वैदिक आर्यों ने देव के पद पर प्रतिष्ठित किया। रमेश चन्द्र दत्त के अनुसार वैदिक काल में आकाश, इन्द्र, पूषन, सूर्य, सवित, विष्णु, वायु, रुद्र. मरुत आदि देवता के रूप में प्रतिष्ठित थे। देवों को प्रसन्न करने के लिये यज्ञ किये जाते थे, जो प्रारम्भ में अत्यन्त सरल होते थे। कोई भी व्यक्ति स्वतः मंत्रो की सहायता से यज्ञ कर सकता था, उसमें न तो जटिलता थी न तो हिंसा। वार्थ महोदय के अनुसार ऋग्वेद से विविध देवताओं की सत्ता का आभास होता है जो तत्कालीन बहुदेववाद का परिचायक है। किन्तु समय के परिवर्तन के साथ ही उत्तर वैदिक काल में वैदिक देवताओं के अतिक्ति अनेक यक्ष, भूत प्रेतादि को भी पूजा का पात्र मान लिया गया, और ऐसे अनेक धार्मिक विचारों एवं व्यवहारों को मान्यता दी गयी, जो ऋग्वैदिक काल में अमान्य थे। उत्तर वैदिक कालीन साहित्य से ज्ञात होता है कि उस समय समाज में लौकिक मान्यताएँ एवं अन्धविश्वास चरम सीमा पर थे। नलिनाक्षदत्त ने हस्त ज्योतिष, सभी प्रकार के दैव कथन्, दैवी घटनाओं से फलों के कथन, स्वप्नफल, मंत्र-तन्त्र, प्रेत विद्या, इन्द्रजाल विद्या का वर्णन किया है जो जनसामान्य को अपनी ओर आकृष्ट किये हुये था। मनुष्य इन लौकिक मान्यताओं में आशा से अधिक विश्वास करने लगा था। उस समय प्रतीकात्मक, रहस्यमय विधाओं और उपासनाओं का आविर्भाव हुआ जिसके साथ आरण्यक जीवन का

प्रचार हुआ।19 वैदिक समाज में नागपूजा का प्रचलन नहीं था। नाग देवता आर्येत्तर जातियों में पूजित थे। अवान्तर काल में जब आर्येत्तर जातियाँ आर्य समाज में विलीन हो गयी, तो नाग पूजा को आर्य समाज ने अपना लिया। ऋग्वेद में अर्थ देवता एवं नागों की शत्रुता का उल्लेख हुआ है। इन्द ने वृत्र तथा आदि नाग का दर्प मदन किया था।' महाभारत में नागपूजा का उल्लेख प्राप्त होता है। आर्येत्तर जातियों में नागपूजा सर्पदंश के भय प्रारम्भ किया था। ऋग्वेद अथर्ववेद, ब्राह्मण ग्रंथों एवं उपनिषदों में यज्ञों का उल्लेख प्राप्त होता है।' किन्तु इस बात का निश्चित रूप से पता नहीं चलता है कि भारत में यक्ष पूजा कब प्रारम्भ हुई। नलिनाक्षदन्त ने मथुरा के आलवी यज्ञ का वर्णन किया है। ऋग्वेद में कहीं-कही इसका प्रयोग मृत व्यक्ति की आत्मा के लिये किया गया है। वृक्ष पूजा की प्रथा अति प्राचीन है। ऋग्वेद में आरण्यानी की पूजा का उल्लेख मिलता है।20 ऋग्वेद में 'अश्वत्य' या 'पिप्पल' वृक्ष का उल्लेख किया गया है21 वृक्ष पूजा अथर्ववेद ब्राह्मण एवं उपनिषद में सर्वप्रथम उपलब्ध होता है। वृक्ष पूजा आर्येत्तर जातियों की देन है, इसका सर्वाधिक प्रबल प्रमाण हड़प्पा युगीन सभ्यता में मिलता है जिसमें पीपल वृक्ष की पूजा का प्रचलन है। वे लोग स्वाभाविक रूप में या वृक्ष से आविर्भूयमान के रूप में करते थे। बौद्ध पालि ग्रंथों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में वृक्ष पूजा बड़ी व्यापक थी। वृक्षों को देवता, अप्सरा, नाग, प्रेतत्मा आदि का निवास स्थान मानकर लोग सन्तान, यश, धन इत्यादि की अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए वृक्षोपासना करते थे। परन्तु वास्तविकता यह नहीं थी कि वृक्ष की पूजा होती थी, वरन पूजा तो उसमें निवास करने वाले देवता अथवा प्रेतात्मा की होती थी। उपनिषद युग में धीरे-धीरे एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ जो वेदों को पूर्ण अथवा उनक रचयिता ऋषियों को सर्वज्ञ मानने के लिये तैयार न था। उनकी दृष्टि में वैदिक प्रज्ञान में सीमित और त्रुटिपूर्ण था। एक मात्र वेदों में आस्था और मन्त्र पाठ मानवी उत्कर्ष के लिए पर्याप्त नहीं थे। एक स्थान पर नाद वेदों के ज्ञान की निस्सारता को प्रदर्शित करते हुए कहते हैं, भगवान! मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चतुर्थ अथर्ववेद को जानता हूं, भगवान! मैंने इतिहास पुराण रूप पंचम वेद को, वेदों के वेद व्याकरण को, श्राद्ध कल्प गति और उत्पाद ज्ञान को भी पढ़ा है। विधि शास्त्र, तर्क शास्त्र और नीति शास्त्र को मैं जानता हूँ। सूर्य विद्या, देवजन विद्या भूतविद्या, क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या भी मैं जानता हूँ। सूर्य विद्या, देवजन विद्या, नृत्य, संगीत आदि का भी मैं अच्छी तरह अध्ययन कर लिया हूँ भगवान! किन्तु यह सब जानकर भी, हे भगवान! मैं केवल मंत्रों को जानता हूँ, आत्मा को जानने वाला नही हूँ। वृहदारण्यकोपनिषद मे एक मात्र पुस्तकीय ज्ञान के प्रति असंतोष व्यक्त किया गया है।22 औपनिषद मनीषियों ने यज्ञों को मन्त्र की अपेक्षा आध्यात्मिक ढंग से करने को कहा है। यशो वै श्रेष्ठतम कर्मः यज्ञो वै ब्रह्म। यज्ञो वै विष्णु, आत्मा वै यज्ञ।। छान्दोग्योपनिषद में कहा गया है कि यज्ञ से पितृलोक की प्रगति भले ही हो जाय, किन्तु उससे चरम लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती है।23 भगवद्गीता में भी वर्णित है कि सबकी श्रद्धा सत्वानुरूप है, मनुष्य श्रद्धामय है अर्थात् जिसकी जैसी श्रद्धा है वैसा ही है, सात्विक पुरूष देवताओं का यजन करते हैं, राजसिक यक्ष राक्षसों का, तथा अन्य तामसिक जन भूतप्रेतों का। इस प्रकार देवपूजा वैदिक थी, यक्ष पूजा तामसिक थी जो जन सामान्य में प्रचलित थी। गोविन्द चन्द्र पाण्डेय के अनुसार यक्ष शब्द सामान्यतः देवता के समान अर्थ रखता था और यक्ष पूजा को अनेकांश में आर्य धर्म का प्रचलित एवं परिवर्तित रूप मानना अनुपयुक्त न होगा।24 उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि याज्ञिक कर्मकाण्डों की जटिलता एवं खर्चीले क्रियाकलापों के विरूद्ध समाज में प्रतिक्रिया अवश्य हुई होगी।

जनसामान्य उस सम प्रचलित याज्ञिक कर्मकाण्डों एवं पूजा पाठों के विपरीत किसी ऐसे धर्म की खोज में रहा होगा जो उस आडम्बर विहीन विधि से आत्मिक शान्ति दिला सके। ऐसी स्थिति में वे एक सरल एवं जनसामान्य के लिये उपयुक्त धर्म की खोज में अग्रसर हुये।

सन्दर्भ

1. डॉ0 राधाकृष्णन: धर्म और समाज, पृ0 120-21
2. मैक्सवेबर- रिलिजन्स ऑफ इण्डिया, पृ0 52-64
3. डॉ0 जयशंकर मिश्र- प्रा0 भारत का सामाजिक इतिहास, पृ0 623
4. ऋग्वेद 1-164, 17-129, 10-90, 10-121
5. डॉ0 मदन मोहन सिंह- बुद्धकालीन समाज और धर्म, पृ0 124
6. शतपथ ब्राह्मण 10-5-4-15
7. डॉ0 जयशंकर मिश्र: प्रा0 भारत का सा0 इतिहास, पृ0 643, पृ0 161
8. मुण्डकोपनिषद 1/1/7
9. डॉ0 गोविन्द चन्द्र पाण्डेय: बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ0 24
10. डॉ0 मनमोहन सिंह: बुद्ध कालीन समाज और धर्म, पृ0 125
11. राम गोविन्द त्रिवेदी: वैदिक साहित्य, पृ0 198
12. शतपथ ब्राह्मण 2/3/1/6
13. शतपथ ब्राह्मण 2/7/2/8
14. शपतथ ब्राह्मण 3/1/4/3
15. डॉ0 विमल चन्द्र पाण्डेय: प्रा0 भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृ0 190
16. डॉ0 वी0एन0 सिंह, डॉ0 आर0 सिंह- भारतीय दर्शन, पृ0 53
17. शतपथ ब्राह्मण 2-3-1-5
18. दीघ निकाय- 2, पृ0 127

19. डॉ0 गोविन्द चन्द्र पाण्डेय: बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ0 26

20. वैदिक इण्डेक्स: 2, पृ0 02, पृ0 33-43

21. अथर्ववेद 5/4/3

22. छान्दोग्य उपनिषद 7-2

23. छान्दोग्य उपनिषद 1-1-10

24. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ0 23